किसको मानें, किसको न मानें : दार्शनिक चिन्तन की मूल समस्या

क्या मानें, क्या न मानें असली सवाल यही है। मानने को बहुत कुछ है, पर 'कुछ' का नकारना भी उतना ही जरूरी है जितना कि किसी को मानना। अच्छा-बुरा हो या सच-झूठ या वह जिसे हम सौन्दर्य की परिधि से बाहर रखना चाहते हैं, सवाल हमेशा यही रहता है कि किसको शामिल करें और किसको बाहर निकालें। पर, विचार की समस्या यही रहती है कि जिसको नकारा है, हटाया है, अलग किया है, उसकी भी तो कुछ सत्ता माननी ही पड़ेगी और अगर ऐसा है तो फिर जिसकी सत्ता हम मानते हैं तथा जिसकी सत्ता हम नहीं मानते उनमें क्या फर्क रह जाता है।

समस्या पुरानी है। नासदीय सूक्त, जो ऋग्वेद के दशम् मण्डल में मिलता है, उसमें यही बात उठायी गयी थी। कहा था–प्रारम्भ में सत् था या असत् और विचार में इस बारे में कुछ भी कहने में समस्या उत्पन्न होती है, कठिनाई लगती है और इसी से तंग आकर सूक्त के ऋषि ने यह कहा था कि इस प्रश्न का उत्तर शायद वही दे सकता है जिससे सृष्टि का प्रारम्भ हुआ, पर इससे भी तंग आकर उसने कहा—'शायद उसे भी पता नहीं।'

पर मनुष्य की बुद्धि का कमाल देखिये, वह नासदीय सूक्त के उत्तर के बाद भी अब तक सोचती रही है। उसे परेशानी होती है, पर यह 'परेशानी' उस तरह की परेशानी नहीं है, जिससे आदमी तंग आता है, और चाहता है कि वह किसी तरह खत्म हो जाये, चाहे इसके लिये उसे मन्दिर जाना पड़े या साधु के पास या भगवान से ही प्रार्थना करनी पड़े। बुद्धि के लिये समस्या कोई परेशानी की बात नहीं होती, बल्कि उसमें तो उसे आनन्द आता है; बुद्धि का 'भोजन' ही यही है और इसी के आधार पर पर वह 'चलती है', निरन्तर चलती है, आज तक चली है, और आगे भी चलती रहेगी।

'फलसफा' का या जिसे दर्शन भी कहते हैं, उसका स्वरूप यही है कि वह समस्या उत्पन्न करती है और फिर उसे सुलझाने की कोशिश भी करती है और

इस कोशिश में वह नई समस्याओं को उत्पन्न करती है। सोचिए, एक समस्या को हल करने में बहुत सारी नयी समस्याएँ उत्पन्न होती हैं, वैसे ही जैसे एक स्त्री–पुरुष के सम्मिलन से कई बालक उत्पन्न होते हैं और उनसे अनेक। वास्तव में संसार की प्रक्रिया यही है। यही नहीं, संसार का नाम ही यही है, यह नहीं हो तो संसार 'संसार' नहीं रहेगा; काल 'काल' नहीं रहेगा; सब कुछ रुक जायेगा, जो होना था वह हो चुका और आगे कुछ नहीं होगा।

पर प्रत्येक चेतन प्राणी को यह समस्या नहीं होती और होती भी हो तो ऐसा नहीं लगता कि उसे इसका पता है। प्राणि मात्र, चाहे वह पेड़, पक्षी, जानवर कुछ भी हो, वे तो जिन्दगी 'जीते' दिखाई देते हैं पर उनमें तो कहीं ऐसे प्रश्नों का उद्भूत होना दिखाई नहीं देता। ऐसा नहीं है कि जिन्दगी जीने में कोई समस्या उठती ही नहीं; एक तरह से 'जिन्दगी' जीने का मतलब यही है, समस्या का उत्पन्न होना और उसके निराकरण के लिये कोशिश करना तथा इस सतत् प्रक्रिया में ही कुछ बनता है, और इस तरह बनता ही जाता है। यही वह संसार है, जो प्राणि मात्र ने रचा है, और जिसको मनुष्य मानकर चलता है। अन्य प्राणी भी कुछ मानकर चलते है। पंच महाभूतों की बात सबने कही है और आज पंच महाभूतों के परे वैज्ञानिकों ने अनेक तरह से उस जड़ जगत् को समझने की कोशिश की है, जिसको प्राणि मात्र मानकर चलते हैं। पर मनुष्य ने जो समस्या उठायी है और जिसके सहारे उसने एक नये संसार की रचना की है, उसकी बात शायद ही कभी सोची गई। मनुष्य का संसार प्राणि मात्र का संसार नहीं है, उससे भिन्न है। यह संसार क्या है, इसका अन्य संसारों से क्या भेद है; इसको जब तक हम नहीं समझेंगे तब तक न दर्शन को समझेंगे और न ही दर्शन के विषयों को और न ही उस चिन्तन प्रवाह को जो बहुत पुराने काल से चलता आ रहा है, और आगे भी चलता रहेगा।

आदमी के पास एक तरह से तो वही है जो अन्य प्राणियों के पास भी दिखाई देता है। शरीर है, इन्द्रियाँ हैं, जन्म है, मरण है, जीने की क्षमता है और इस जीने में जो समस्याएँ उत्पन्न होती हैं, उनको सुलझाने की कोशिश भी है, क्षमता भी है। ऐसा नहीं है कि अन्य प्राणियों का अपना 'संसार' नहीं होता। उनके लिये जन्म–मरण की समस्या नहीं होती। वे भी आपस में प्यार करते हैं, लड़ते–झगड़ते हैं, और इसी तरह जिन्दगी बिताते हैं। बच्चे पालते हैं, बड़ा करते हैं और फिर उनको कुछ सिखाते भी हैं, और सिखाकर संसार में छोड़ देते हैं।

आदमी भी यही करता है, पर उसमें एक फर्क है, और वह फर्क यह है कि वह यह सब करता ही नहीं, इसके बारे में सोचता भी है और इस सोचने से ही मनुष्य का संसार बनता है। इसलिये अगर मनुष्य के संसार को समझना है तो उसके पहले यह समझना होगा कि यह 'सोचना' क्या है? इसके पीछे वह क्या

राज़ छिपा है, जिसको समझे बगैर न हम आदमी को समझ सकते हैं, और न इसके संसार को।

जरा आदमी के संसार को देखिये। कितना विचित्र है—शहर है, गाँव है, क्या नहीं है। रेल है, जहाज है, नाव है, सब कुछ है। हीरा है, माणक है, फूल है। यही नहीं, आदमी गाता है, नाचता है, चित्र बनाता है, और विज्ञान की सृष्टि करता है, दुनिया को समझने की कोशिश करता है तथा पूछता है; यह सब क्या है, क्यों है, कैसे है, इसको कैसे अच्छा बनाया जाये, कैसे अधिक सुन्दर बनाया जाये, कैसे अधिक श्रेयस् बनाया जाये। उसे भगवान की दुनिया पसन्द नहीं, भगवान की दुनिया से उसे सन्तोष नहीं। यह सही है कि पहाड़ है, आसमान है, सब कुछ है पर इनसे उसे सन्तोष नहीं होता। वह इनके बारे में कविता लिखता है और पूछता है, यह क्या है और कितने हैं। क्या इनका भी कभी जन्म हुआ था, क्या इनका भी कभी नाश होगा, जिस तरह मैं पैदा हुआ था और एक दिन मृत्यु को प्राप्त होऊँगा। पर वह पूछता है यह 'मैं' क्या हूँ और मेरे में जो जानने की अभिलाषा है, ठीक करने की भावना है, अधिक सुन्दर और शिव को प्राप्त करने की लालसा है, यह सब पुरुषार्थ क्या है? आखिर मैं इस चक्कर में क्यों फँसा हूँ? इतने अनेकानेक लोग मेरे से पहले हुये हैं, दिग्गज, महापुरुष जिनके सामने मैं कुछ नहीं हूँ, उन्होंने कितना किया, कितना बनाया, उनकी छाँह में ही मेरा जन्म हुआ, पर फिर भी मैं कुछ करना चाहता हूँ। मुझे, जो उन्होंने किया था, उसमें भी दोष दिखाई देते हैं, ऐसा क्यों? यह दोष दिखाई देना, अपूर्णता का बोध होना, यही उस जिज्ञासा के मूल में है, जिससे दर्शन उत्पन्न होता है और जिससे उस अनन्त पुरुषार्थ की प्रक्रिया का प्रारम्भ होता है, जो मनुष्य को कर्म के क्षेत्र में उसी प्रकार अनुप्राणित करती है, जैसे 'जिज्ञासा' ज्ञान के उस अनन्त मार्ग पर चलने को बाध्य करती है, जिसके बारे में हमें इससे ज्यादा पता नहीं चलता। सोचना भी है, चलना भी है, करना भी है और भाव जगत् की सृष्टि भी करनी है, जिसमें करुणा हो, मैत्री हो, आपसी प्रेम हो, सब कुछ हो।

आदमी जहाँ कहीं देखता है, अपने भीतर या बाहर, अपनी ही रचनाओं के बारे में या वह जो उसे विरासत में मिला हो या उससे भी परे, जिसको बगैर माने वह कुछ कर ही नहीं सकता, सब में उसे कुछ ऐसा दिखाई देता है, जो उससे कहता प्रतीत होता है कि तुम कुछ करो और यही उस अनन्त पुरुषार्थ की प्रक्रिया को जन्म देता है, जो मनुष्य के छोटे से जीवन को सार्थक बनाती है। यही नहीं, वह अपने अनेक आयामों से उसकी अनेक आयामों की ओर भी इशारा करती है, जो अपने आप में अनगिनत हैं। मनुष्य की कृति, सृजनशीलता केवल बाहरी नहीं अन्दर भी है और बाहर की विविधता अन्दर की विविधता को रचती है।

'मैं कौन हूँ', इसका जवाब कभी भी यह कह कर नहीं दिया जा सकता कि 'मैं' यह हूँ, क्योंकि जो 'यह' है वह उसे सीमित करेगा। उसी प्रकार जो बाहर है

'वह क्या है' उसका भी कोई एक उत्तर नहीं दिया जा सकता, क्योंकि वह उत्तर उसे सीमित करेगा। बाहर की अनन्तता अन्दर की अनन्तता को परिलक्षित करती है, प्रतिबिम्बित करती है और बताती है, मनुष्य चाहे भाव रूप में समझा जाये या ज्ञान रूप में या कर्म रूप में या अन्य रूप में, उसको कभी भी सीमित नहीं किया जा सकता और न ही उनकी गणना की जा सकती है।

आओ, थोड़ी देर ज्ञान की बात करें। जानने की, सोचने की, समझने की। 'यह क्या है?', हम किसको जानना चाहते हैं; अपने को या अपने जो सामने है उसको। आखिर समझना क्या होता है। 'समझने' और 'सोचने' में क्या अन्तर है। इस बात के बारे में बहुत सोचा गया और यह सोचना ही यह बताता है कि इसका कोई ऐसा उत्तर देना मुश्किल है, जो सबको मान्य हो। लेकिन एक बात साफ है कि अगर कोई आदमी यह कहता है कि मुझे इसका ज्ञान है या मैं इसे समझता हूँ तो उसके लिये यह शर्त अनिवार्य है कि वह दूसरों को समझा सके, दूसरों को बता सके कि वह ज्ञान क्या है। यही नहीं, दूसरों को भी दे सके और इसके भी परे वह इस प्रक्रिया को, जिसके द्वारा वह ज्ञान पैदा हाता है, उस प्रक्रिया पर भी प्रकाश ड़ाल सके, ताकि दूसरे भी उस प्रक्रिया द्वारा ज्ञान प्राप्त कर सकें, स्वयं सोचें और कुछ समझें।

परस्पर आश्रितता जरूर है। पर, इस आश्रितता का लक्ष्य स्वतन्त्रता है, बन्धन नहीं। जैसे ज्ञान के क्षेत्र में अध्यापक और विद्यार्थी का सम्बन्ध होता है, वैसा ही अन्य क्षेत्रों में भी है। हालांकि हम उसे उस रूप में स्वीकार नहीं करते। पढ़ाने वाले की सफलता इसमें है कि विद्यार्थी स्वयं पढ़ाने वाला बने और अपना रास्ता खुद बनाये। इसी प्रकार कर्म और भाव जगत् में भी पुरुषार्थ यही है कि दूसरा हम पर आश्रित न रहे। दूसरा स्वतन्त्र बने तथा हमसे अधिक अच्छा बने।

पर समय की शुरूआत इस बात से होती है जब आदमी यह सोचने लगता है कि आखिर इन सब चीजों का कोई अपना स्व-रूप है, क्योंकि हम जैसे ही यह कहते हैं कि कोई चीज 'यह' है तो हम यह भी कहते हैं कि 'वह' कुछ और नहीं है। सोचने की प्रक्रिया यह मानकर चलती है कि भेद है। जो 'यह' है वह कुछ और नहीं है। इस तरह समझने की प्रक्रिया यह मानकर चलती है कि जो है, उसका अपना स्वरूप है, जो दूसरों से किसी न किसी प्रकार से भिन्न है। जैसे आदमी अपने बारे में सोचता है तो कहता है कि 'मैं' हूँ, पर इस कहने में दो बाते हैं। पहली यह कि मेरे तथा अन्य में भेद है; दूसरी यह कि मेरा अपना कोई स्वरूप है, जो दूसरों के स्वरूप से भिन्न है; तीसरा जो और भी अजीब है, वह यह है कि अगर मुझे दूसरों से कुछ कहना है, सीखना है, कुछ समझना है, तो हमारे बीच में कोई सम्बन्ध भी होना चाहिये। केवल स्वरूप से काम नहीं चलेगा; केवल दूसरों से 'अलग' होने से काम नहीं चलेगा; किसी और चीज की भी जरूरत होगी और वह यह कि रिश्ता क्या है?

ये रिश्ते भी अनेक प्रकार के हो सकते हैं। इनमें भी अनन्तता है। रिश्ते भी अच्छे-बुरे, ठीक-गलत और पता नहीं क्या-क्या हो सकते हैं। लेकिन इससे भी गहरी बात यह है कि हर रिश्ते का अपना स्वरूप होता है, व्यावर्तक लक्षण होता है, उसकी अपनी स्वायत्तता तथा विशेषता होती है।

सम्बन्धों की बात करें, तो एक नयी दुनिया खुलती है, जो सम्बन्धों से ही बनती है। आखिर दुनिया में अगर चीजें अलग-अलग पड़ी हों और उनके बीच में कोई रिश्ता ही नहीं हो तो दुनिया बनेगी कैसे? जो पहला सम्बन्ध हमें दिखाई देता है वह 'पास-दूर' का है; दूसरा 'पहले-बाद' का तथा तीसरा 'कम-ज्यादा' का। ये तीनों रिश्ते दुनिया को बनाने के मूल में हैं। पहले का देश से सम्बन्ध है, दूसरे का काल से तथा तीसरे का परिमाण से है। इन तीनों सम्बन्धों में आपस में क्या सम्बन्ध है। यह उस मूलभूत समस्या की ओर इशारा करता है जो गणित और ज्यामिति के मूल में है। 'गिनना' और 'नापना' देश और काल दोनों में होता है, पर दोनों के सम्बन्ध में अलग-अलग तरीके से होता है, लेकिन जोड़ने-घटाने, नापने-तौलने में जो प्रक्रिया निहित है, उनके भी पीछे जो एक बात गणित का ज्ञान नजरअन्दाज करके चलता है, वह यह कि यह सब निरपेक्ष न होकर सापेक्ष है। सापेक्ष उस मनुष्य के सन्दर्भ में जो नापता है, गिनता है, तौलता है, पर वह इस बात को नजरअन्दाज़ करके ही ज्ञान का स्वरूप लेता है, और कहता है; मैं मनुष्य से स्वतन्त्र हूँ, निरेपक्ष हूँ, अपने आप में सच हूँ, मेरा किसी जानने वाले और जानने वाले के स्वरूप से कोई सम्बन्ध नहीं है।

बात इतनी साफ है कि आखिर आदमी की आँख ही देखती है, कान ही सुनते हैं। अगर आँख को हटा दीजिये तो दुनिया कहाँ रहती है; कान को हटा दीजिये तो फिर क्या बचता है और अगर हाथ-पैर को हटा दें तो चलना ही मुश्किल नहीं हो जायेगा तथा आदमी को यह भी पता नहीं चलेगा कि आगे-पीछे क्या है दायें-बायें क्या है, ऊपर-नीचे क्या है। आ ी अपने शरीर से ही दुनिया नापता है और अपने मन से ही, जो अपने अन्दर होता है, उसको महसूस करता है। अपनी अक्ल से ही जानने की कोशिश करता है। इससे आगे भी कुछ है जो उसे अच्छे-बुरे का बोध कराती है और इससे भी पीछे कुछ ऐसा है, जो इन सबके द्वारा कुछ करने की कोशिश करता है। एक तरह से यह बात इतनी मामूली है कि सबको पता होनी चाहिये। गिनना हम अंगुलियों से शुरू करते हैं, नापना हाथ से, दूरी चलकर, वजन उठाकर पर जब हम बात करते हैं तो क्या करते हैं, भाषा का इस्तेमाल करते हैं। कुछ कहते हैं और उस 'कहने' को कोई दूसरा समझता है; समझता ही नहीं, यह भी कहता है कि मैं समझा नहीं हूँ तथा आप मुझे फिर समझाइये। इस तरह 'कहने' को समझना और समझाना उन सबके मूल में है, जिसकी हम बात करते हैं, और यदि हम भाषा को नहीं समझेंगे तो हम मनुष्य को भी नहीं समझ सकते।

भाषा को समझने के लिये क्या व्याकरण को समझना जरूरी होता है। यही नहीं, 'व्याकरण' तो भाषा विशेष का होता है; पर जब हम भाषा की बात करते हैं तो किसी भाषा विशेष की बात ही नहीं करते, बल्कि उस 'सामान्य' की भी बात करते हैं, जिसे हम हर भाषा में व्याप्त मानते हैं, और जिसे भाषा का सामान्य लक्षण कहते हैं। भाषा विशेष में तो इस सामान्य लक्षण के अलावा कोई विशिष्ट लक्षण भी होगा जिसके बगैर उसमें वह विशिष्ट गुण नहीं पाया जायेगा जो उसका व्यावर्तक लक्षण होता है, पर ऐसा मानने पर हमें किसी ऐसे 'व्याकरण' की बात करनी पड़ेगी जो भाषा विशेष से न बना होकर भाषा मात्र में व्याप्त माना जायेगा। यह सामान्य व्याकरण क्या होगा और अगर इसका पता लग भी जाये तो वह हमें अपनी समस्याओं को समझने और सुलझाने में मदद करेगा।

भाषा 'कुछ' कहती है या कहने की कोशिश करती है और, किसी से इस 'कुछ' को कहना चाहती है। इस तरह भाषा के दो पक्ष हैं। एक पक्ष विचार से सम्बन्धित है, दूसरा सुनने वाले या समझने वाले से है। अगर हम इन दोनों पक्षों की और ध्यान दें तो फिर सवाल यह उठेगा कि विचार का व्याकरण क्या है, या विचार का भी कोई अपना स्वरूप है, जो भाषा के व्याकरण से भिन्न है। दूसरी ओर यह सोचना होगा कि वह 'अन्य' कौन है, जिससे हम कुछ कहना चाहते हैं और यह कहना क्या है?

दूसरी बात की ओर पहले ध्यान दें तो इतना तो साफ दिखाई देता है कि हम उसी से बात करते हैं जो हमारी बात को कम से कम थोड़ा-बहुत समझ सकता है। ज्यादातर हम आदमी से ही बात करते हैं और यह मानकर चलते हैं कि वह आदमी हमारे जैसा ही है। लेकिन 'हमारे जैसा' होने का क्या मतलब है। इसकी ओर अगर हम ध्यान दें तो हमें पता चलेगा कि हम जिसको जगत् या संसार कहते हैं, वह मनुष्यों के बीच में भाषा के आदान-प्रदान से ही रचित होता है, और भाषा का काम कुछ कहना नहीं है, बल्कि यह महसूस करना है कि कोई दूसरा भी है, मेरे से बाहर, मेरे से स्वतन्त्र और यह बात मुझे दिलासा देती है, आश्वस्त करती है कि कोई और भी है, जिससे मैं बात करके, बोल करके रिश्ता बना सकता हूँ। इसलिये आदमी चाहता है कि किसी से जाकर कुछ देर बैठकर 'बात' करे। यह 'बात' किसी विषय विशेष के बारे में नहीं होती; एक तरह से यह बात 'बात' होती ही नहीं है; कुछ ही कह देते हैं। ऐसा लगता है कि कुछ कहने के लिये नहीं कहा जा रहा है, पर 'मिलने' के लिये। और, एक तरह से यह खाली बोलने की बात नहीं होती, कहने का अन्दाज़ भी होता है, चेहरे पर हँसी-खुशी भी होती है, हाथ बढ़ाकर भी मिलते हैं, गले लगाकर भी और फिर गप्पें लड़ाते हैं, खुश होते हैं, कहकहे लगते हैं, चाय, कॉफी पीते हैं और लगता है, हमारी जिन्दगी थोड़ी देर के लिये वास्तव में सार्थक हुई है।

सोचिये, अगर दुनिया में कोई और नहीं हो तो वह दुनिया कैसी होगी? क्या वह दुनिया रहेगी? जिन्होंने संसार छोड़ दिया है, उन्हें भी चेले-चाँटे चाहिये और मुनि हो तो श्रावक चाहिये, शिष्य भी।

यही नहीं, हम खाली आदमी से ही बात नहीं करते, जानवरों से भी करते हैं। कुत्ते, बिल्ली, गाय, भैंस, घोड़े, गधे की बात करीब-करीब सब जानते हैं। चिड़ियों को बाजरा खिलाते हैं, उनके लिये पानी रखते हैं। मोर छत पर आता है तो खुशी होती है और जब चिड़ियों को आकाश में उड़ता देखते हैं तो हमारा मन भी उड़ता है।

बात यहीं तक नहीं है। आखिर फूल-पौधों से क्या हम बात नहीं करते। बात न भी करें तो भी उन्हें देखकर दिल खुश होता है। गुलाब की बात सब जानते हैं, उसकी भीनी सुगन्ध का सबको पता है और रात की रानी की बात कौन नहीं जानता। सड़क पर गुजरते लोग थोड़ी देर के लिये रुकते हैं और कहते हैं, कितनी तेज गंध है। गंध के कितने प्रकार हैं। यही बात 'बोलियों' के बारे में सोचिये। अगर दुनिया में आवाज़ न हो तो वह कैसी हो। आवाज भी चाहिये, रंग-रूप भी चाहिये, गंध भी चाहिये। 'हवा' जब धीमी चलती है तो कितनी अच्छी लगती है। इनकी बात छोड़ भी दे तो सूरज, चाँद, सितारों को क्या भूल जायेंगे।

दुनिया यही है और इसी से हमारा रिश्ता है,ओर रिश्ता केवल बात करने का नहीं है। हमारा सारा शरीर, सारा मन, सारी बुद्धि जो कुछ भी है, किसी अन्य से सम्बन्ध स्थापित करना चाहते हैं। हर एक स्तर पर, हर क्षण और जिन्दगी इसी का नाम है। अगर आज के विज्ञान की बात करें तो ऐसा लगेगा कि आदमी सारे संसार से जुड़ा है। अनेकानेक शक्तियाँ जो पता नहीं कैसी हैं, कितनी दूर से आती हैं, वह हर क्षण छूती हैं, हमसे कुछ कहती हैं और हम भी उस सारे संसार से सम्बन्धित हैं, और जो भी हम सोचते हैं, करते हैं, वह उस पर प्रभाव डालता है। अगर ऐसा है तो क्या जो हम सोचते हैं, करते हैं, वह दूसरे मनुष्यों पर असर नहीं डालेगा। क्या उनको अच्छे-बुरे की ओर नहीं ले जायेगा, क्या मन में खुशी या रंजिश पैदा नहीं करेगा। क्या वह जो लोग करते हैं हम पर असर नहीं ड़ालेगा।

इतनी जरा सी बात को भी आदमी ने आज तक नहीं समझा, जो इस 'फलसफा' की बात करते हैं वे तो ऐसा मानकर चलते हैं कि दुनिया है ही नहीं। वे ही सब कुछ हैं। जैसे उनका सोचना ही सोचना है और जो अध्यात्म की बात करते हैं, धर्म की बात करते हैं उनका आदर्श तो खुद यही कहता है; कैवल्य प्राप्त करो, अकेले हो, अन्य कुछ भी नहीं है, संसार झूठा है, असत् है, माया है। यह कैसी विड़म्बना है। इतना बड़ा झूठ कैसे सच मान लिया गया है। 'फलसफा' की बात देकार्त से शुरू नहीं होनी चाहिये बल्कि उन सम्बन्धों से जिनका स्वरूप हमें आदमी की भाषा में स्पष्ट मिलता है, लेकिन जैसा सबको पता है भाषा केवल वही नहीं है जो भाषा के नाम से जानी जाती है। जो आदमी कहता है, करता है,

अभिव्यक्त करता है, वह सब व्यापक अर्थ में भाषा ही है। संगीत में, नृत्य में, नाट्य में, चित्र में और स्थापत्य में भी। यह सब हमारे चारों ओर हमेशा रहते हैं पर इन सबसे परे तथा इनसे भी ऊपर जब दो नज़र मिलती हैं या होंठ पर मुस्कान चमकती है तब लगता है, असली बात यही है। इससे भी परे जब आदमी के मन में जो भाव उदय होते हैं कि वह इसकी पूजा अर्चना करे, किसी को सर्वस्व समर्पण करे; किसी के प्रति आभार व्यक्त करे और इसके भी बाद ध्यान करे; अन्दर देखे; अपने से बात करे, वह भी एक प्रकार का सम्बन्ध ही होता है और उसमें भी एक प्रकार की भाषा निहित रहती है। आजकल भाषा विज्ञान अपने विस्तृत रूप में 'संकेत' या 'संकेत चिन्ह' की बात करता है। अंग्रेजी में इसे 'सिमियोटिक्स' कहते हैं और इसका आज विस्तार इतना है कि सब कुछ इसमें समा जाता है। डॉक्टर मरीज को देखता है; उसकी नब्ज को देखता है; आँख को देखता है; सब कुछ को और यह सब उसको कुछ कहता है। एक तरह से क्या हम सब डॉक्टर नहीं हैं, थोड़े-बहुत तो हैं ही। दूसरों का भाव एकदम पहचान लेते हैं कि आज इसका मूड ठीक नहीं है; इसकी तबीयत ठीक नहीं है तथा कोशिश करते हैं कि इसका मूड ठीक हो; उत्साह हो; खुशी हो, यह रोज़ ही होता है, लेकिन हम इसकी ओर ध्यान नहीं देते। नहीं तो एक नयी तरह का 'फलसफा' होगा तथा एक नयी तरह की जिन्दगी बनने लगेगी।

पर 'फलसफा' की बात करते हैं तो एक गहरा सवाल पैदा होता है कि अगर यह सब किसी अर्थ में भाषा है तो इन सबका भी क्या कोई व्याकरण है और अगर है तो केवल ज्ञान का ही नहीं होगा, बल्कि भाव का भी होगा, और कर्म का भी होगा; कल्पना का भी होगा; संकल्प का भी, यानि किसका नहीं होगा।

क्या मनुष्य की हर प्रवृत्ति के मूल में कोई ऐसा निहित स्वरूप है या आकार है जो उन सबको रूप प्रदान करता है, जो वह जानता है, करता है या महसूस करता है। कांट ने इस पर शायद सबसे गहरा विचार किया था। वैसे तो जिन लोगों ने चिन्तन मात्र पर चिन्तन किया है और तर्कशास्त्र की रचना की है, उन्होंने बुद्धि के स्वरूप को पहचानने की कोशिश की है और जिन लोगों ने मनुष्य के कर्म पर चिन्तन किया है, उन्होंने धर्म का लक्षण बनाने की कोशिश की है और इसी तरह जिन्होंने भाव जगत् में निहित और उससे उत्पन्न अनेक विधाओं को देखा है, और उन पर चिन्तन किया है, उन्होंने भी इस शास्त्र की रचना की है, जो भाव बोध के मूल में है; भाव को सार्थकता अर्थवत्ता प्रदान करती है। लेकिन ऐसा अलग-अलग लोगों ने अलग-अलग जगह किया है। कांट ने तीनों के बारे में चिन्तन तो किया और बहुत कुछ कहने की कोशिश भी की है, पर तीनों के बीच में क्या सम्बन्ध था तथा क्या मूल में एकत्व था, इसकी बात कहते-कहते वह रुक गया। उसकी खोज, उसके चिन्तन का मूल स्रोत जो, उसने कई जगह बताने की कोशिश की वह यह था, आखिर वह सब जो मनुष्य करता है, जानता है, महसूस

करता है, इसके मूल में क्या है? क्योंकि इसी से संसार बनता है। वह संसार, जिसे हम मनुष्य का संसार कहते हैं। पर, कैसे? आश्चर्य की बात है। उसमें बात सबकी की है, पर न मनुष्य के सम्बन्ध की बात की और न उन सम्बन्धों की बात की, जिनसे संसार बनता है। ऐसा लगता है वह इस दुनिया में रहता ही नहीं था। न उसने कभी इस बारे में सोचा कि उसका भी कभी जन्म हुआ था, वह भी जवान होगा, बूढ़ा होगा और एक दिन मृत्यु को प्राप्त होगा। ऐसा चिन्तन हिन्दुस्तान में बहुत हुआ। बुद्ध की बात सबको पता है। जरा, व्याधि, मरण, जीवन का सत्य है। यह मृत्यु लोक है और कर्म इसका अभिन्न अंग है। पर इस चिन्तन में दुःख ही दुःख की बात है, न जवानी की उमंग है, न स्वप्न, न आदर्श है, न विश्वास और न ही कुछ करने की चाह है। सौन्दर्य के प्रति तो इतनी उपेक्षा है कि समझ में नहीं आता कि इनकी आँख खुली थीं या बन्द और यदि खुली भी होती दिखाई देती हैं तो उससे घबराते नज़र आते हैं। संसार से भागना पलायन है, पराजय है, हार मानना है, मृत्यु से घबराना मूर्खता है। आखिर अमर होकर आदमी क्या करेगा और हमेशा जवान रहकर क्या करेगा। सम्बन्धों को तोड़कर क्या बनेगा? क्या इसके विपरीत हम नया चिन्तन नहीं कर सकते? संसार को स्वीकारना, जन्म मृत्यु को मानना और इसके परे भी जो राष्ट्र है, समाज हैं, अर्थ का व्यापार है, लेन-देन है; जिस पर सब आश्रित हैं, उसको क्या अच्छा नहीं बनाया जा सकता। उसमें कोई तब्दीली नहीं लाई जा सकती। क्या ऐसा चिन्तन नहीं हो सकता, जो सबकी ओर देखे, सबको स्वीकार करे तथा सबमें कुछ नया लाने की कोशिश करे, जो हर मायने में अच्छा लगे।

इस चिन्तन की ओर बढ़ने से पहले हमें मनुष्य को समझना होगा और मनुष्य को समझने के लिये यह स्वीकार करना होगा कि उसका जन्म होता है, और उसके पैदा होने के लिये माता-पिता की आवश्यकता होती है, और जब वह पैदा होता है तो इतना निस्सहाय और निरीह होता है कि उसे कुछ भी नहीं आता। धीरे-धीरे उसे सब कुछ सीखना पड़ता है और यह 'सीखने' की प्रक्रिया ही मनुष्य बनने की प्रक्रिया है, जिसके होने में 15-20 साल तो लगते ही हैं। इन वर्षों में वह बोलना भी सीखता है, चलना भी सीखता है और भी कई बातें सीखता है। धीरे-धीरे वह खाली हँसकर या रोकर ही अपनी बात नहीं कहता। उसे अच्छा लग रहा है या बुरा, यह वह कहकर भी बताने लगता है और यही नहीं, वह जगत् से यानी अपने माता-पिता से हर रोज कुछ चीजों की माँग करता है, और कहता है; मुझे यह चाहिये, मुझे यह अच्छा नहीं लगता और कई बार तो वह उस सीखने-सिखाने के विरोध में आवाज उठाता है। कहता है, मुझे पढ़ना नहीं है, लेकिन उसको जबरदस्ती बहुत सारी बातें सिखाई जाती हैं और वह सीखता है, नहीं तो सजा भी दी जाती है। इसी तरह वह धीरे-धीरे मनुष्य बनता है और यह सीखता है कि क्या करना चाहिये और क्या नहीं करना चाहिये? बोलना कैसे

चाहिये? शुद्ध उच्चारण और ठीक-ठीक लिखना उसको सिखाया जाता है। धीरे-धीरे वह उस संस्कृति का सदस्य बनता है, जिसमें वह उत्पन्न हुआ है और फिर अपने दोस्तों के साथ मिलकर उन सबके बारे में बहस करता है और इसके बाद थोड़ा और बड़ा होकर सीखने-पढ़ने के बाद अपना नया घर बनाता है, नौकरी करता है और फिर उसी चक्कर में शामिल हो जाता है, और खुद माता-पिता के रूप में नये बालक को जन्म देता है, उसके बाद धीरे-धीरे और बड़ा होता है फिर बूढ़ा होता है, और फिर मृत्यु को प्राप्त होता है। पहले बालक या बालिका था, फिर माता-पिता बना, गुरु बना फिर बाबा, नाना या दादी, नानी बना।

इस बात को जब तक हम स्वीकार नहीं करेंगे तब तक हम सोच ही नहीं सकेंगे और जो सोचना इन सबको नजरअन्दाज करके चलता है, वह बेमानी है, बेकार है, उसका कोई अर्थ नहीं है।

यही नहीं, इन सबको समझने के लिये भी हमें यदि हमारा चिन्तन खाली व्यक्ति केन्द्रित है तो, इसका कोई अर्थ नहीं। व्यक्ति से पहले घर है, गृहस्थी है, माँ-बाप हैं, भाई-बहिन हैं, और भी बहुत सारे रिश्ते हैं जो माँ की तरफ से या पिता की तरफ से होते हैं और इनके पीछे समाज होता है जो यह कहता है कि जन्म देने के लिये विवाह जरूरी है और इस 'विवाह' का क्या अर्थ है। यही नहीं, इसके भी पहले जो उसके चारों तरफ व्याप्त है, जिसमें वो जीता है और साँस लेता है, उसी तरह जैसे मछली पानी में रहती है, वह भाषा है, जिसके बगैर वह एक कदम भी नहीं चल सकता। भाषा उसे कहाँ से मिलती है? माँ-बाप तो खाली उसे शरीर देते हैं। भाषा उसे कुछ और देती है। भाषा की, बोली की खूबी यह है कि किसी को भी पता नहीं कि वह कहाँ से आती है। वही सम्बन्ध बनाती है, वह समाज और संस्कृति की रचना करती है, उसी के सहारे सब कुछ खड़ा होता है। भाषा तो एक नहीं, अनेक होती हैं, इसलिये समाज और संस्कृति भी अनेक होती हैं।

भाषाओं का अनेक होना तो सबको दिखाई देता है। पर यह भी उतना ही ठीक है कि हम दूसरी भाषा को सीख सकते हैं और यह सीखना इस बात की ओर इंगित करता है कि भाषायें भले ही भिन्न हों पर उनमें ऐसी कोई मूल एकता है कि आदमी हमेशा दूसरी भाषा को समझने में समर्थ होता है। यह छिपी हुई बात ही मनुष्य को मनुष्य बनाती है। क्योंकि वह उसे अपनी संकुचित सीमाओं से बाहर जाने की क्षमता प्रदान करती है। वह उससे बँधा नहीं रहता जिसमें वह पैदा हुआ था, बड़ा हुआ था, आदमी बना था। आदमी बनने के लिये उसे घर, समाज, राज्य, राष्ट्र सबको मानते हुये, स्वीकार करते हुये भी उससे बँधे नहीं रहना ही उसकी आदमीयत की निशानी है।

इसके भी परे आदमी जब अपने घर, समाज, राज्य, राष्ट्र आदि से ऊपर उठकर देखता है तो वह अपना सम्बन्ध उस सारे विश्व के सन्दर्भ में बनाने की चेष्टा करता है, जो उसे मनुष्य से भी परे ले जाती है, प्राणी मात्र से सम्बन्ध बनाती

है और उससे परे जो लोक है चाहे वह पंच महाभूत से बना हो या किसी और से, वह उनके साथ अपना सम्बन्ध देखता है।

इसी की बात भारतीय परम्परा में इस प्रकार कही गयी थी—''यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे।'' जो मनुष्य में है वही सब विश्व में है और जो विश्व में है वह सब मनुष्य में है। इसी को दूसरे रूप में भारतीय परम्परा में यह बताने की कोशिश की गई है, 'अहं ब्रह्मास्मि', 'तत् त्वमसि', 'सर्वं खलु इदम् ब्रह्म'। यहाँ ब्रह्म का वो अर्थ नहीं है जो अद्वैत वेदान्ती ने लिया। यहाँ ब्रह्म का अर्थ चरम सत्य है जो सब जगह व्याप्त है तथा जिसके लिये उपनिषद् में कहा गया 'ईशावस्य इदम् सर्वम्' और जिसकी चर्चा तैत्तिरीय उपनिषद् में यह कहकर की गई थी कि मनुष्य के पाँच स्तर या कोश हैं। अन्नमय कोश, प्राणमय कोश, मनोमय कोश, विज्ञानमय तथा आनन्दमय कोश। ब्रह्मवल्ली में इसी को ब्रह्म रूप में कहने की कोशिश की गई। ब्रह्म के भी यही स्तर हैं, पंच महाभूत हैं, प्राण है, महत् है, मन है, बुद्धि है, और उसके परे कुछ भी नहीं है। पर खाली यह कहने से तो काम नहीं चलता। आखिर 'पिण्ड' तथा 'ब्रह्माण्ड' की हर स्तर पर एकता होने के बाद भी सवाल यह रहता है कि इनका सम्बन्ध क्या है, और इसकी बात बौद्धों ने अन्य प्रकार से की है। उन्होंने कहा कि इसका सम्बन्ध कुशल तथा अकुशल होता है। कुशल वह है जो स्वतन्त्रता, आनन्द और सुख की ओर ले जाती है तथा संसार में सत्य, शिव, श्रेय की सृष्टि करता है। अकुशल इसका उल्टा है। आदमी यदि इसे समझ लें तो जान लेगा कौनसा श्रेयस्कर है, कौनसा नहीं। बन्धन-मोक्ष की बात भारतीय परम्परा में बहुत कही गयी है, लेकिन बन्धन को जिस रूप में देखा गया है, उस दृष्टि में मूलभूत दोष है। क्योंकि वह दृष्टि प्रवृत्ति मात्र को ही दोष मानती है, कर्म को नकारती है तथा सम्बन्धों को तो स्वीकार ही नहीं करती।

योग में कैवल्य की बात है और तीर्थंकर हों या बुद्ध 'अकेले' ही हैं। हाँ, बोधिसत्व की बात जरूर कही गयी है पर बोधिसत्व का संसार से सम्बन्ध कुछ अजीब तरह का है। उसमें करूणा है, दया है, सहायता करने की प्रवृत्ति है, लेकिन यह कोई बराबरी का सम्बन्ध नहीं होता, और उसके लिये इसका होना न सार्थक है और न अनिवार्य। हाँ, भक्तों की भीड़ जरूर होती है, और अगर चैतन्य को इसका प्रतीक माना जाये तो गाना और नाचना भी, पर उसमें आदमी और भगवान के बीच सम्बन्ध हो सकता है, मनुष्य और मनुष्य के बीच नहीं और फिर अन्य प्राणियों का तो सवाल ही नहीं उठता।

सम्बन्ध होते हैं या बनाये जाते हैं; यह इतना मूलभूत प्रश्न है कि इसको समझे बिना न हम दर्शन को समझ सकते हैं और न ही उस चिन्तन को, जो मनुष्य और संसार दोनों के बारे में है। गुण का द्रव्य से सम्बन्ध होता है। हम कहते हैं कि फूल नीला है या लाल। पर यह 'नीला' और 'लाल' होना किस सम्बन्ध का द्योतक है। धर्म धर्मी में रहता है, समवाय सम्बन्ध से और यह समवाय सम्बन्ध

नित्य है, पर इसमें द्रव्यत्व का और जिसका वह धर्म होता है, वही प्रधान होता है, लेकिन सम्बन्ध को दूसरी प्रकार से भी देखा जा सकता है। आखिर जो भी है, क्या उसमें सदैव परिवर्तन नहीं होता रहता। क्या गुण वैसे ही बने रहते हैं, जैसे वे होते हैं। रंग फीके पड़ते हैं तथा कुछ समय के बाद उड़ भी जाते हैं। यही नहीं, जिसके वे धर्म होते हैं, वह भी समाप्त होता है, नष्ट होता है, मृत्यु को प्राप्त होता है, पर यदि हम संसार को इस प्रकार देखें तो उसमें अनित्यता देखने को मिलती है, प्रवाह दिखाई देता है, और स्थायित्व या नित्यता दृष्टि दोष लगती है।

भारतीय चिन्तन परम्परा में इस प्रकार का चिन्तन भाषा के सन्दर्भ में हुआ है, और यह प्रश्न उठाया गया है कि भाषा संज्ञा-प्रधान होती है या क्रिया-प्रधान। जैसे ही हम इसे संज्ञा प्रधान मानते हैं तो सारा विश्व गुण के रूप में दिखाई देता है और उससे भी परे वही सत्य प्रतीत होता है जो गुणों का आश्रय है या जिसमें गुण धर्म आते जाते रहते हैं, नित्य वही रहता है। दूसरी ओर अगर हम क्रिया-प्रधान मानें तो द्रव्य जैसी कोई चीज रहती ही नहीं है। वास्तव में किसी चीज को स्थायित्व प्रदान करना उस क्रिया पर आश्रित होता है, जो उसे बिखरने से रोकती है। वस्तुएँ वास्तव में सहज रूप में स्थायी नहीं होतीं, उन्हें स्थायित्व प्रदान किया जाता है, जैसे ही हम उनको नष्ट होने से रोकना बन्द कर देते हैं, वैसे ही धीरे-धीरे सब कुछ बिखरने लगता है। घर को दो दिन साफ न करो तो तीसरे दिन पता चल जाता है कि उसका क्या हाल है। मकान को रोज मरम्मत की जरूरत होती है। यही हाल सड़कों का भी है और उन सबका जो आदमी ने बनाया है, और उसके परे जो कुछ भी है उसका इतिहास हमें यह बताता है कि वह वैसा नहीं था जैसा कि हमें आज दिखाई देता है।

इस तरह सोचने या देखने से लगता है कि सम्बन्ध बने-बनाये नहीं होते, हमेशा एक से नहीं रहते उन्हें बराबर बनाना पड़ता है, बनाये रखना पड़ता है, और इसके लिये उनकी सहज सार्थकता को समझना जरूरी होता है। सम्बन्धों में एक परस्परता का भाव होता है। हालांकि यह परस्परता स्वयं अनेक प्रकार की होती है और इसके अनेकानेक भेद हैं, जिसकी ओर दार्शनिक चिन्तन ने बहुत कम ध्यान दिया है।

अगर ध्यान भी दिया है तो केवल गणित तथा तर्कशास्त्र के सम्बन्ध में। गणित में सम्बन्ध की बात जोड़-घटाने, गुणा-भाग के सन्दर्भ में की गई है। यह सबको पता है कि दो और दो चार होते हैं। पर ये चार होना कैसे होता है। इस पर बहुत कम ध्यान दिया है। आखिर वह क्या प्रक्रिया है, जिससे दो और दो चार बनते हैं। यह 'जोड़ना' क्या होता है? यह जोड़ने की प्रक्रिया क्या कभी रुकती है। आप जोड़े जाइऐ और संख्याएँ लम्बी होती जायेंगी, बड़ी होती जायेंगी। आप जोड़ना बन्द कर दीजिये तो सब कुछ रुक जायेगा। यही बात गुणा, भाग, घटाने के बारे में भी है। पर, उन पर सोचने से एक ऐसी अनन्त शृंखलाओं का जन्म

होता दिखाई देता है, जो अपने आप में असम्भव सी प्रतीत होती है। आखिर घटाना तो क्या किसी संख्या में से किसी संख्या को निकालना या कम करना है। सदैव तो यह नहीं चल सकता। यही बात भाग करने के बारे में है। किसी भी चीज को कितने भागों में बाँटेंगे तो चीज तो खत्म हो जायेगी। तो हम क्यों मानकर चलते है कि किसी भी चीज को अनन्त भागों में बाँटा जा सकता है, और घटाने की प्रक्रिया को तो और भी अनन्त की ओर ले जा सकते हैं।

वस्तुयें अपने आप में सीमित हैं। पर हम इस जोड़ने, घटाने,गुणा, भाग करने की प्रक्रिया से उसमें अनन्तता को आरोपित नहीं करते या वह वास्तव में अपने आप में अनन्त है और क्या हम उनमें सीमित या सांत होने की बात आरोपित नहीं करते। बात दोनों तरह से कही जा सकती है और यह तय करना कि इनमें से कौनसी बात सही है, मुश्किल ही नहीं, बेमानी भी है। इस बात में वह राज छिपा है जो आदमी की उस मूलभूत स्वतन्त्रता की ओर इशारा करता है वह चाहे तो यह मान ले या चाहे तो इसका उल्टा भी मान ले। पर इतना जरूर है कि उसे एक बात मानने पर और बहुत सारी बातें माननी पड़ती हैं। इस मानने की बाध्यता में ही संसार के बनने का मूल रहस्य छिपा है। आजादी के बाद कितना बड़ा बन्धन आदमी स्वीकार करता है, स्वीकार करना पड़ता है, पर लौटने की आजादी हमेशा रहती है, उतनी ही जितनी बनाने की और बनाने से जो सम्बन्ध उत्पन्न होता है, उसको मानने की। देखिये, घटाने की प्रक्रिया ऐसी संख्याओं को उत्पन्न करती है जिन्हें अंग्रेजी में negetive numbers कहते हैं। गुणा करने की प्रक्रिया ऐसी संख्याओं को उत्पन्न करती है। जो भी उतनी ही अनगिनत हैं जितनी वह जो घटाने से प्राप्त होती है। दो को एक बार दो से गुणा कर सकते हैं, दो बार, तीन बार, चार बार और कितनी ही बार। जिनको आप अजीब तरह से लिख सकते हैं। दो के ऊपर आप दो बनाते हैं (2^2), तीन बनाते हैं और आप फिर तंग होकर n लिख सकते हैं। आपके चाहने पर यह निर्भर करता है। यह बात इसकी उल्टी भी होती है। आप किसी भी संख्या को आधे में बाँट सकते हैं, तिहाई में बाँट सकते हैं। हजार, दस हजार, लाख, करोड़ और कितनी ही बार उसके भाग कर सकते हैं। यह भी उतनी ही अनन्त है, जितनी जोड़ करने, घटाने और गुणा करने और भाग करने से उत्पन्न होती है।

गणित की कहानी इतनी लम्बी है, और अजीब है कि उसकी चर्चा हम यहाँ अधिक नहीं कर सकते। लेकिन इतना इशारा करना जरूरी है कि चीजों को गिनना एक बात होती है, और नापना-तौलना अलग, और वहाँ भी इसी अनन्तता के दर्शन होते हैं। एक तरह से यह बात सब जगह मिलती है। आदमी जो कुछ भी करता है, सोचता है, उन सबमें एक अनन्त प्रक्रिया परिलक्षित होती है। उसका कभी कोई समाप्त होना दिखाई नहीं देता। हाँ, वह जब चाहे रोक सकता है, और यह रोकने की शक्ति भी उतनी ही सत्य है, जितनी बढ़ाने की, विस्तार करने की

या फैलाने की, जिससे संसार बनता है और काल उत्पन्न होता है। क्रिया और कर्म देश-काल में होते हैं; अनन्तता को लिये हुये, अनन्तता को जन्म देते हुये। पर रोकना काल को रोकना, देश से दूर हो जाना है, उस सृष्टि की अनन्तता को समाप्त करना होता है। देश और काल, कारण और कार्य दोनों एक प्रक्रिया पर आश्रित होते हैं, जो गणित में अपने शुद्ध रूप में प्रकट होती है। क्रिया है तो सब कुछ है। क्रिया समाप्त कर दीजिये, न कार्य-कारण और न वो फासला जो कार्य-कारण के बीच में होता है, जिसके आधार पर ही हम यह कहते हैं कि यह पहले था अब नहीं। मनुष्य के पास ये दोनों शक्तियाँ हैं; इन्हें ही प्रवृत्ति या निवृत्ति कहा गया है। संसार को रचने की और संसार से स्वतन्त्र होने की। यदि हम चिन्तन में इन दोनों शक्तियों पर ध्यान दें और दोनों में से किसी को प्राधान्य न दें तो हम आदमी को शायद ज्यादा अच्छी तरह से समझ सकेंगे। नहीं तो हम इसी बहस में हमेशा उलझे रहेंगे कि कौन सत्य है, कौन अधिक श्रेयस्कर है, कौन अधिक शुभ है और सोचने की उलझन में ही पड़े रहेंगे, करेंगे कुछ भी नहीं। मनुष्य का चिन्तन उसके कर्म-भाव को दिशा देता है और वह दिशा देना बन्द कर दे तो कर्म, ज्ञान और भाव जगत् की सृष्टि अपने सहज रूप में लौट जायेगी, उस अचेतन रूप में लौट जायेगी जो आत्म चेतना के प्रकट होने से पहले वह थी। न उसमें शुभ होगा, न श्रेयस्कर, न सुन्दर, न शिव, न सत्य। वह जैसी है, वैसा ही उसे होना था। उसमें अच्छे-बुरे का भेद नहीं किया जा सकता। मनुष्य की चेतना ने जिस भेद को उत्पन्न किया है उस चेतना के आधार पर ही इस प्रकार के जगत् की रचना हो सकती है, जहाँ यह भेद सार्थक है और कर्म को प्रेरित करना भाव को प्रांजल बनाता है, और ज्ञान को सत्य की ओर ले जाता है।

आदमी की बनायी हुई दुनिया एक ओर कल्पना पर आश्रित होती है तो दूसरी ओर चिन्तन पर या सोचने पर और तीसरी ओर इच्छा पर, वासना पर या स्वप्न पर। इस संसार को या आदमी की बनायी हुई सृष्टि को हम उस तरह समझ ही नहीं सकते जिस तरह आदमी से स्वतन्त्र जो संसार है, और समझने, समझाने की पहली गलती यही है कि हम इन दोनों में भेद करते ही नहीं हैं। अगर हम इस मूलभूत भेद को स्वीकार करें, तो फिर आदमी को सृष्टा के रूप में या सृष्टिकर्त्ता के रूप में देखना होगा और धीरे-धीरे उसकी अपनी बनायी हुई दुनिया ही उसके लिये दुनिया रहेगी, और अगर इस दुनिया में कोई कमी है या दोष है या बुराई है तो इसकी जिम्मेदारी उस पर ही होगी, किसी भगवान पर नहीं। क्योंकि यह दुनिया उसकी बनायी हुई है। इस दुनिया के मूल में मनुष्य तो है पर मनुष्य में वह क्या है जो इसकी रचना करता है और इसको हमेशा सुधारता रहता है। जब तक हम बात को इस तरह से नहीं देखेंगे तब तक हम ज्ञान की उस मूलभूत भ्रान्ति में पड़े रहेंगे जो यह मानकर चलती है कि कुछ है और उसका कुछ अपना ऐसा स्वरूप है, जिसमें परिवर्तन किया ही नहीं जा सकता। इसके विपरीत कर्म प्रधान चिन्तन

यह मानकर चलता है कि जो है वह उतना सत्य नहीं जितना कि वह जो नहीं है और जिसे होना चाहिये। एक तरह से साधारण ज्ञान के सन्दर्भ में भी यह बात स्पष्ट होती है पर उसे इस तरह देखा नहीं जाता। जब हम पूछते हैं कि 'यह क्या है?' तो 'यह' और 'क्या' में भेद करते हैं। आखिर सवाल का पैदा होना ही यह बताता है कि हमें उस चीज का पूरा ज्ञान नहीं है। पर यह 'पूरा ज्ञान' होने का क्या मतलब है। क्या इस ज्ञान की प्रक्रिया कभी समाप्त हो सकती है। आदमी कब से जानने की कोशिश करता आया है, और क्या कभी ऐसा समय आयेगा जब उसकी जानने की प्रक्रिया समाप्त हो जोयगी। अगर ऐसा नहीं है तो ज्ञान में ही एक अनन्तता है, जो यह मानकर चलती है कि अगर जिसको वह जानने की चेष्टा करता है, उसका कोई स्वरूप भी है तो वह स्वरूप अपने में अनन्तता लिये हुये है। पर इसके भी परे जब यह सवाल उठता है कि क्या जिसका हमें ज्ञान है वह अपने आप में ऐसा है, जिसे हम स्वीकार कर सकते हैं और अगर हमें उसको स्वीकार करने में कोई हिचकिचाहट होती है तो हम उसे अस्वीकार करके बदलने की कोशिश करते हैं। आज मनुष्य का ज्ञान करीब-करीब इस जगह पहुँच चुका है, जहाँ वह हर चीज को बदलने की अपने आप में शक्ति पाता है। लेकिन इस शक्ति के साथ जो गहरा सवाल जुड़ा हुआ है, उसका जवाब उसके सामने साफ नहीं है। बदल तो हम हमेशा सकते हैं पर इस बदलने की दिशा क्या होगी, असली सवाल यही रहता है और इस तरह दर्शन का मूलभूत प्रश्न यह नहीं है कि 'क्या है' पर 'क्या होना चाहिये' और आदमी के लिये 'होना चाहिये' का मतलब एक ही होता है कि उसका 'सब' से सम्बन्ध क्या है।

❑

दार्शनिक चिन्तन का स्वरूप और उसकी समस्याएँ

दार्शनिक चिन्तन एक प्रकार से 'चिन्तन' का ही एक प्रकार है और अगर ऐसा है तो ऐसा भी ज़रूर होगा कि कोई चिन्तन हो और वह 'दार्शनिक' न हो पर, अगर वह चिन्तन है और दार्शनिक नहीं है तो फिर वह कैसा चिन्तन है और उसको 'दार्शनिक' नाम से जानने वाले चिन्तन से कैसे अलग करेंगे। साधारणत: 'चिन्तन' है, तो उसका कुछ विषय भी होगा। मतलब यह, कि चिन्तन किसी के बारे में होगा। लेकिन, मान भी लें कि चिन्तन किसी के बारे में है और यह भी मान लें कि ऐसा होना ज़रूरी है, फिर भी यह सवाल तो बाकी रह जाता है कि आखिर 'सोचने' की ज़रूरत क्यों पैदा हुई। किसी को ऐसा क्यों लगा कि सोचना चाहिए या चिन्तन करना चाहिए।

बगैर 'सोचे' भी जिन्दगी गुजरती है और कई लोगों की राय में ज्यादा अच्छी तरह से गुजरती है। खुद बहुत से दार्शनिकों की राय है कि 'सोचना' एक 'बीमारी' है जो कुछ खास लोगों को आसानी से सताती है। इसीलिए शायद फिलोसफरों को करीब-करीब सभी लोग 'आधा पागल' समझते हैं, कुछ लोग पूरा पागल भी। वैसे, 'पागलपन' क्या है, इसका फैसला करना मुश्किल है। फिर भी यह मानने में किसी को कठिनाई नहीं होनी चाहिए कि 'पागलपन' हजारों तरह के होते हैं और अगर फलसफा 'पागलपन' है, तो उसका और पागलपनों से भेद करना ज़रूरी है। एक तरह से देखें तो कौन पागल नहीं था, क्या बुद्ध 'पागल' नहीं थे, राज्य को छोड़ना, बीबी-बच्चों को छोड़ना, वह भी रात को, चुपके से बगैर किसी को कहे। बाद में भी जो उन्होंने किया, कम से कम तब तक जब वह 'बुद्ध' नहीं बने थे पागलपन जैसा ही लगता है। हाँ, बुद्ध होने के बाद की बात दूसरी है और वह भी शायद इसलिए कि उनके हजारों, लाखों 'मुरीद' हो गये, शिष्य बन गये, पर हज़ारों नौजवानों को उनके घर से निकालकर 'भिक्षु' बनाना क्या कोई अच्छी बात थी। उनके माँ-बाप ने तो उन्हें भी पागल की संज्ञा दी ही होगी।

बुद्ध की बात छोड़ें, 'गाँधी' क्या पागल नहीं हुए थे, वे क्यों 'पागल' नहीं कहलायेंगे और, उन्होंने जो अपने बीबी-बच्चों के साथ किया, उसको कौन ईमानदार आदमी ठीक बतायेगा।